RJPP, Vol. XVIII, No.II, 2020, ISSN (P) : 0976-3635, (e) :2454-3411, Impact Factor 7.721

सामाजिक न्याय के उद्देश्य की प्राप्ति में न्यायपालिका की भूमिका का आलोचनात्मक अध्ययन

डा0 राजीव कुमार
एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीति विज्ञान विभाग
आर0एस0एस0 (पी0जी0)
कॉलेज पिलखुवा (हापुड़)
Email: chrajeev72@gmail.com

अन्जू चौधरी
शोध छात्रा,
राजनीति विज्ञान विभाग
आर0एस0एस0 (पी0जी0)
कॉलेज, पिलखुवा (हापुड़)

सारांश

सामाजिक न्याय एक बहुआयामी संकल्पना है। इसके अन्तर्गत मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को सम्मिलित किया जाता है। सामाजिक न्याय की संकल्पना का संबंध न्यायपालिका की स्वतंत्रता से है। साथ ही यह वर्तमान समय में हमारे समाज में व्याप्त समस्याओं जैसे बाल श्रम, यौन शोषण, घरेलू हिंसा, बेरोजगारी तथा भुखमरी से सम्बन्धित है। सामाजिक न्याय का उद्देश्य है। इन समस्याओं को दूर करना। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय की प्राप्ति को राज्य का उद्देश्य माना गया है। सामाजिक न्याय से आशय समाज में एक ऐसी समतापूर्ण व्यवस्था की स्थापना से है, जिसमें कोई भी वर्ग दबा कुचला न हो तथा आर्थिक विषमतायें न्यूनतम हों।

सभ्यता के प्रारम्भिक चरण में जब व्यक्ति वन्य जीव के रूप में जीवन निर्वाह कर रहा था, तब शक्तिशाली द्वारा दुर्बल को विनष्ट किये जाने का प्राकृतिक नियम पशुओं एवं मानव के बीच समान रूप से प्रचलित था। किन्तु समय के साथ विकास आया तथा विकास के साथ व्यवस्थित तथा न्यायपूर्ण जीवन व्यतीत करने की इच्छा। तभी से एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता अनुभव की गई जो विवेक द्वारा उचित तथा अनुचित में भेद कर सके तथा अनुचित को दण्डित कर उचित को न्याय प्रदान कर सके। इस प्रकार मानव सभ्यता के विकास के साथ ही न्याय की अवधारणा का उद्गम हो गया, किन्तु न्याय की परिभाषा, उसकी संरचना तथा स्वरूप देशकाल तथा राजनीतिक व्यवस्था के बदलने के साथ–साथ बदलते रहे है।

Reference to this paper should be made as follows:

Received: 24.04.2020
Approved: 28.09.2020

डा0 राजीव कुमार
अन्जू चौधरी

सामाजिक न्याय के उद्देश्य की प्राप्ति में न्यायपालिका की भूमिका का आलोचनात्मक अध्ययन

RJPP 2020,
Vol. XVIII, No. II,
pp.189-193
Article No. 22

Online available at *:*
https://anubooks.com/?page_id=6391

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राजा न्याय का प्रमुख स्त्रोत था। राजा को यह निर्देश दिया गया था कि वह दण्ड का प्रयोग धर्म के अनुसार ही करें। इस प्रकार धर्म न्याय प्रणाली का आधार था। मध्यकाल में भारत में मुस्लिम शासकों का आधिपत्य स्थापित हो गया तथा इस्लामी कानूनों के अनुसार न्याय व्यवस्था का संचालन किया जाने लगा। मराठों व राजपूतों ने हिन्दू तथा मुस्लिम न्याय व्यवस्था का सम्मिलित प्रयोग अपनी–अपनी रियासतों में किया। ब्रिटिश न्याय व्यवस्था का जन्म भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ हुआ। 1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट द्वारा 1774 में एक मुख्य न्यायधीश तथा तीन अन्य न्यायधीशों वाले सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई। **सर एलीजाह इम्पे** इसके मुख्य न्यायधीश तथा **चेम्बर्ज लिमैस्टर** तथा **हाइड** छोटे न्यायधीश नियुक्त हुए। स्वतंत्रता के बाद भारत में स्वतंत्र व सर्वोच्च न्यायपालिका की स्थापना की गई है।

सामाजिक न्याय की अवधारणा

सामाजिक न्याय एक बहुआयामी अवधारणा है। सामाजिक न्याय का सामान्य अर्थ है। मानव–मानव के बीच सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी प्रकार का भेद न माना जाए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के समान अवसर उपलब्ध हो तथा मानव को एक पवित्र सामाजिक विभूति माना जाए, किसी परोक्ष लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र नहीं। इस प्रकार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक लाभों का न्यायपूर्ण वितरण ही सामाजिक न्याय है।

प्रक्रियात्मक एवं तात्विक न्याय

सामाजिक जीवन में न्याय किस प्रकार स्थापित किया जाये इस विषय पर समकालीन चिंतन के अन्तर्गत विचारकों में मतभेद है। प्रक्रियात्मक न्याय के समर्थक यह मानते हैं कि मूल्यों, लाभों तथा सेवाओं के आवंटन की प्रक्रिया या विधि न्यायपूर्ण होनी चाहिए, फिर किसे क्या मिलता है, यह विवाद का विषय नहीं है। इसके विपरीत तात्विक न्याय के समर्थक यह मानते है कि लाभों का वितरण न्यायपूर्ण होना चाहिए। इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए प्रक्रिया में आवश्यक समायोजन किया जा सकता है।

प्रक्रियात्मक न्याय का स्वरूप कानूनी औपचारिक न्याय से मिलता जुलता है तथा तात्विक न्याय का विचार सामाजिक न्याय की अवधारणा के समान है। तात्विक न्याय के प्रमुख विचारक **डेविड मिलर** ने अपनी विख्यात कृति **"सोशल जस्टिस" (1976)** में तीन मानदण्डों का विवरण दिया है, जिनके आधार पर विभिन्न विचारक न्याय की समस्या का समाधान ढूंढ़ते है।

सामाजिक न्याय के विभिन्न प्रतिरूप

न्याय का मानदण्ड	सामाजिक व्यवस्था	प्रमुख प्रवर्तक
स्वीकृत अधिकारों का संरक्षण	श्रेणी तंत्रीय व्यवस्था	डेविड ह्यूम
योग्यता के अनुरूप वितरण	प्रतिस्पर्धात्मक बाजार	हर्बर्ट स्पेन्सर
आवश्यकता के अनुरूप वितरण	समैक्यावादी समुदाय	पीटर क्रोपाटकिन

समकालीन उदारवादी चिंतन के अन्तर्गत सामाजिक न्याय की अवधारणा के प्रमुख विचारक **जॉन रॉल्स** हैं, जिन्होंने अपनी विख्यात कृति **"ए थ्योरी ऑफ जस्टिस"** में यह तर्क दिया है, "उत्तम समाज में अनेक सद्‌गुण अपेक्षित होते हैं, उनमें न्याय का स्थान सर्वप्रथम है।" व्यक्ति की गरिमा रॉल्स की न्याय प्रणाली का केन्द्र बिन्दु है।

न्याय की सर्वसम्मत प्रक्रिया निर्धारित करने के लिए **रॉल्स** ने एक विशेष तर्क प्रणाली का सहारा लिया। उसने यह कल्पना की है कि यदि व्यक्तियों को उनकी वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से पृथक कर दिया जाए तो वे भावी समाज में अपने हितों की अधिकतम वृद्धि हेतु सामाजिक जीवन के नियमों, सिद्धान्तों तथा संस्थाओं का पुर्ननिर्माण किस प्रकार करेंगे? इस काल्पनिक स्थिति को रॉल्स ने मूल स्थिति माना है तथा इसमें मनुष्य अज्ञान के पर्दे के पीछे बैठा है। परन्तु उन्हें अर्थशास्त्र तथा मनोविज्ञान का आरम्भिक ज्ञान तथा न्याय का बोध है। इस मूल स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को यह संदेह रहेगा कि वास्तविकता प्रकट होने पर वह अपने आप को हीनतम स्थिति में पायेगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति यह मांग करेगा कि जो हीनतम स्थिति में है। उसके लिए अधिकतम लाभ की व्यवस्था होनी चाहिए। इस प्रकार सभी व्यक्ति न्याय के निम्नलिखित नियम स्वीकार कर लेंगे।

1–	प्रत्येक व्यक्ति को सबसे विस्तृत स्वतंत्रता का ऐसा समान अधिकार प्राप्त हो, जो दूसरों की ऐसी ही स्वतंत्रता के साथ निभ सकती हो।	समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त
2–	सामाजिक तथा आर्थिक विषमताऐं इस प्रकार व्यवस्थित की जाएं कि–	
–	हीनतम स्थित वाले व्यक्ति को अधिकतम लाभ मिले।	भेदमूलक सिद्धान्त
–	ये विषमतायें उन पदों तथा स्थितियों के साथ जुड़ी अवसर की उचित समानता की शर्तों पर सबके लिए सुलभ हो।	अवसर की उचित समानता का सिद्धान्त

भारत में सामाजिक न्याय

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में उसे एक लोक कल्याणकारी राज्य बनाने का संकल्प लिया गया है तथा लोक कल्याणकारी राज्य के आदर्श की प्राप्ति की पूर्व शर्त है सामाजिक न्याय की स्थापना।

अनुच्छेद 14	–	विधि के समक्ष समता
अनुच्छेद 15	–	भेदभाव का अभाव
अनुच्छेद 16(3)	–	अवसर की समानता
अनुच्छेद 17	–	अस्पृश्यता उन्नमूलन
अनुच्छेद 21(1)	–	निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा
अनुच्छेद 24	–	बालश्रम निषेध
अनुच्छेद 38(1)	–	राज्य सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय की स्थापना का प्रयास करेगा।
अनुच्छेद 39 (1)	–	निःशुल्क विधिक सहायता

सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय के इस त्रिवर्ग में आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय वस्तुतः सामाजिक न्याय की ही व्यावर्ती जातियां है। तीनों की ही उपादेयता सामाजिक परिधि में होने के कारण आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय सामाजिक न्याय के वृत के ही अन्तर्वृत हैं। सामाजिक न्याय के सामाजिक शब्द में समाज के समस्त आयाम परिलक्षित हैं। राज्य का अर्थतंत्र संसाधनों व उत्पादन के विभाजन के सिद्धान्तों पर संचालित होता है। इन सिद्धान्तों के न्यायपूर्ण होने पर आर्थिक व्यवस्था स्वयंमेव न्यायपूर्ण हो जाती है। राजनीतिक संरचना नागरिकों के सुसंगठित समाज की विवक्षा है। इस प्रकार सामाजिक न्याय की व्यापक अवधारणा में आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय समाहित हो जाते है। ये तीनों न्याय की त्रिधार न होकर न्याय की एकल धार में ही त्रिविध तरंगे हैं। यही करण है कि इनके पृथक्करण का प्रयास नहीं किया गया है।

सामाजिक न्याय के उद्देश्य की प्राप्ति में न्यायपालिका की भूमिका

भारत में स्वतंत्र, सर्वोच्च तथा निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापना की गई है तथा संविधान की रक्षा के लिए न्यायपालिक को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार दिया गया है।

न्यायिक पुनर्विलोकन का अर्थ है, "संविधान द्वारा संविधान की रक्षा के लिए न्यायपालिका को दी गई वह शक्ति जिसके प्रयोग द्वारा न्यायपालिका संसद द्वारा पारित किसी कानून की वैधता का परीक्षण कर सकती है तथा संविधान विरूद्ध होने पर उसे पूर्ण अथवा आंशिक रूप से शून्य घोषित कर सकती है।"

अमेरिका के प्रधान न्यायधीश **मार्शल** ने **1803** में **मारबरी बनाम् मैडिसन** के मामले में न्यायिक पुनर्विलोकन की व्याख्या करते हुए कहा था कि "न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालयों द्वारा अपने सामने प्रस्तुत विधि कानूनों तथा कार्यपालिका अथवा प्रशासकीय कार्यों का वह निरीक्षण है, जिसके द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि क्या वे एक लिखित संविधान के द्वारा निषिद्ध किये गये हैं अथवा उन्होंने अपनी शक्तियों से बढ़कर कार्य किया है अथवा नहीं।"

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 13, 32, 131, 132 तथा 246 में न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार अन्तर्निहित है।

न्यायिक पुनर्विलोकन जहाँ विधायिका के मनमाने कानून निर्माण पर रोक लगाता है, वहीं दूसरी और न्यायिक सक्रियता कार्यपालिका को कर्तव्य पालन की दिशा में प्रयत्न करने अथवा मनमाना आचरण करने से रोकने का साधन है। भारत में न्यायिक सक्रियता का प्रारम्भ जनहित याचिका पद्धति से हुआ। **1986** में माननीय न्यायधीश **पी0एन0 भगवती** ने मात्र एक पोस्टकार्ड पर जनहित याचिका पर सुनवाई की प्रथा प्रारम्भ की। न्यायिक सक्रियता को उसी देश में अपनाया जा सकता है, जहाँ न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था पहले से विद्यमान है। इस प्रकार न्यायिक सक्रियता न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का विस्तार है। प्रारम्भ से वर्तमान तक भारतीय न्यायपालिका ने अपनी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति का व्यापक प्रयोग किया है तथा वर्तमान समय में वह न्यायिक सक्रियता के माध्यम से अपनी प्रगतिशील भूमिका का निर्वहन कर रही है। इस क्रियाशीलता के माध्यम से न्यायपालिका ने राजनीतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार पर रोक लगाने में तथा संसद को उसके कर्तव्य याद दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई

है। समसामयिक परिदृश्य पर दृष्टि डालें तो जनपद मुजफ्फरनगर के शुक्रताल के गौड़ीय मठ के प्रकरण में न्यायपालिका ने स्वतः संज्ञान लेकर निष्पक्ष जांच के आदेष दिये। गौड़ीय मठ में अनाथ बालकों को शिक्षा के नाम पर प्रवेश दिया गया। किन्तु उनसे मठ में विभिन्न कार्य कराये जाते थे तथा मठ संचालक पर अव्यस्क बालकों के यौन शोषण का भी आरोप लगा। स्थानीय एन0जी0ओ0 द्वारा इस मामले में हस्तक्षेप के बाद न्यायपालिका ने त्वरित प्रतिक्रिया देते हुए पूरे प्रकरण की जांच का आदेश दिया। ऐसे ही विभिन्न मामलों पर जहाँ व्यक्ति की गरिमा, सम्मान तथा उसके अधिकारों का हनन होता है, वहाँ हमारी सक्रिय न्यायपालिका हस्तक्षेप कर संबंधित व्यक्ति अथवा समूह को न्याय प्रदान करती है। किन्तु न्यायिक सक्रियता की इस सकारात्मक प्रक्रिया में एक दोष यह है कि जनहित याचिका के नाम पर न्यायालयों के समक्ष बहुत सारे वाद पहुँच जाते हैं। इनमें से अधिकांश में कोई सार तत्व नहीं पाया जाता। इस प्रकार ऐसी अर्थहीन जनहित याचिकाएं न्यायालय के मूल्यवान समय को नष्ट करती हैं। इस दिषा में जनता को जागरूकता दिखाने की आवश्यकता है। हमें यह समझना होगा कि केवल ऐसी जनहित याचिकाएं ही न्यायालय में दाखिल की जाएं जिनमें विधि का कोई प्रश्न अन्तर्निहित हो अथवा वे समाज के किसी वर्ग के हित से संबंधित हों। न्यायपालिका के साथ सहयोग करके हम भारतीय नागरिक सामाजिक न्याय की स्थापना में सहयोग कर सकते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1– बसु दर्गादास, *भारत का संविधानः एक परिचय,* प्रेंटिस हॉल ऑफ इण्डिया प्रा0लि0, नई दिल्ली, 2006

2– चतुर्वेदी, मधुमुकुल, *भारतीय संविधान में व्यक्ति की गरिमा एवं मानवाधिकार,* राज पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 2003

3– पुरोहित बी0आर0 एवं जोशी संदीप, *सोशल जस्टिस इन इण्डिया,* रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2003

4– रे बी0एन0, *जॉन रॉल्स एण्ड द एजेण्डा ऑफ सोषल जस्टिस,* अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा0लि0 2000

5– शाह घनश्याम, *सोशल जस्टिसः ए डायलॉग,* रावत पब्लिकेशन जयपुर एण्ड नई दिल्ली, 1998

6– थापर रोमिला, *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,* ग्रन्थ शिल्पी प्रा0लि0, दिल्ली, 2001

7– विप्लव एवं भास्कर– *कॉन्सेप्ट आफ ह्यूमन राइट्स* राहुल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ, 2013

8– गाबा ओमप्रकाश, *राजनीति विज्ञान विश्वकोष मयूर* पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 2008